

वंदना के शिल्प में नहीं

□ राजाराम भादू

“अगर ईश्वर संपूर्ण सत्य अपने दाएं हाथ में छुपाकर रखे और अपने बाएं हाथ में सत्य के लिए अटल प्रयास को ... और कहे कि चुनो तो मैं विनम्रता से उसके बाएं हाथ के सामने झुकूंगा और कहूंगा, ‘परम पिता, मुझे प्रयास दो क्योंकि शुद्ध सत्य तो सिर्फ तुम्हारे लिए है’—

— फेलीप फर्नादीज—आर्मेस्तो, ‘सत्य एक इतिहास’ से

देश की राजधानी में 22 अक्टूबर, 98 को केन्द्र सरकार ने राज्यों के शिक्षा-मंत्रियों का एक सम्मेलन आयोजित किया। सम्मेलन की शुरुआत ‘सरस्वती वंदना’ से की जाने लगी तो कई प्रदेशों के शिक्षा मंत्रियों ने इस पर सख्त एतराज किया और विरोध प्रदर्शित करते हुए सम्मेलन से बाहर चले गये। हालांकि इन शिक्षा-मंत्रियों का विरोध सिर्फ ‘सरस्वती वंदना’ से ही नहीं था बल्कि ये लोग पहले से ही सम्मेलन के लिए विचारार्थ जारी किए गए दस्तावेजों के अनुगलक को लेकर प्रतिवाद कर रहे थे। इन मंत्रियों के अनुसार यह अनुगलक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़ी शैक्षिक संस्था विद्या भारती की सिफारिशों का प्रस्ताव था। प्रकाशित खबरों के अनुसार इस प्रस्ताव में बारहवीं कक्षा तक संस्कृत को अनिवार्य बनाने, लड़कियों के लिए पाठ्यक्रम में घर की देखभाल को शामिल करने और स्कूलों में वेद-पुराणों की शिक्षा देने जैसी बातें शामिल थीं। एक और बात का कई राज्यों के मंत्री लोग पहले से ही विरोध कर रहे थे कि एक गैरसरकारी व्यक्ति को बतौर शिक्षाविद् इस सम्मेलन में अपना पर्चा प्रस्तुत करने बुलाया जा रहा था। इन शिक्षामंत्रियों का एतराज यह था कि यह व्यक्ति कोई शिक्षाविद् नहीं बल्कि एक प्लाइवुड व्यवसायी है और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की संस्था विद्या भारती से संबद्ध है। बहरहाल, केन्द्र सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्री ने उपरोक्त अनुगलक सम्मेलन के एजेंडे से निकाल दिया और उक्त गैर सरकारी व्यक्ति के पर्चा नहीं प्रस्तुत करने की बात भी मान ली और एक 20 पृष्ठीय दस्तावेज के आधार पर सम्मेलन में देश की शिक्षा नीति पर दो दिन चर्चा हुई।

सम्मेलन में दिये भाषण में प्रधानमंत्री ने कहा कि शिक्षा में धर्मान्धता को कोई स्थान नहीं है। लेकिन इसके कुछ ही समय बाद एक रैली में उन्होंने उक्त सम्मेलन में विपक्षी शिक्षामंत्रियों द्वारा सरस्वती वंदना के बहिष्कार को शर्मनाक बताया। सम्मेलन के बाद केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्री द्वारा जारी वक्तव्य के अनुसार किन्हीं आठ मुद्दों पर राज्यों के शिक्षामंत्रियों के बीच सर्वसम्मति हो गयी थी। लेकिन मंत्री ने उसके बाद समय-समय पर जो वक्तव्य दिए हैं, उससे पूर्व-योजना के प्रति उनकी हठधर्मिता सामने आती है जो उन्होंने सम्मेलन को लेकर बनायी थी, भले ही वह असफल हो गयी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और विद्या भारती सहित उसके शैक्षिक विचारों का व्यावहारिक प्रयोग करने वाली संस्थाओं ने और जोर-शोर से अपने अभियान को चलाने की घोषणा की है। हिन्दूवादी संगठन सरस्वती वंदना के बहिष्कार के खिलाफ निंदा अभियान चला रहे हैं। जबकि केन्द्र सरकार को समर्थन दे रहे सहयोगी राजनीतिक दलों ने सरकार की यह कहते हुए आलोचना की है कि उसने साझा-कार्यक्रम का उल्लंघन किया है। उधर विपक्षी राजनीतिक दल इस बात का जोर-शोर से प्रचार कर रहे हैं कि शिक्षा-सम्मेलन ने भाजपा के ‘छद्म-एजेंडे’ को उद्घाटित कर दिया है।

यह समूचा प्रकरण शिक्षा की राजनीति का खुला नमूना है। इस प्रकरण में सत्तापक्ष, उसके समर्थक दल और विपक्ष सबके राजनीतिक अभिप्रेत हैं। शिक्षा का प्रसार और उसकी गुणवत्ता में बढोत्तरी करना इनमें से किसी का मंतव्य प्रतीत नहीं होता। सम्मेलन के मूल दस्तावेज के साथ अनुगलक का प्रस्ताव

और संस्तुतियां गत अगस्त में विद्या भारती के दिल्ली में आयोजित सम्मेलन में पारित की गई थीं । इससे संबंधित खबरें अनेक अखबारों में छपी हैं । राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के शिक्षा उपक्रम के रूप में विद्या भारती की पहचान सर्वविदित है । लेकिन विपक्षी शिक्षामंत्रियों का यह तर्क उचित नहीं कहा जा सकता कि चूंकि यह सरकारी सम्मेलन है इसलिए इसमें किसी गैर सरकारी प्रस्ताव या संस्तुति पर विचार नहीं किया जा सकता । इस तर्क को एक बार मान लेने से किसी भी निष्पक्ष और गंभीर शैक्षिक विचार के राष्ट्रीय पटल पर विमर्श हेतु सामने आने का रास्ता अवरुद्ध हो जाता है । यही बात पी.डी. चितलांगिया के पर्चा प्रस्तुत करने पर लागू होती है । उनके पर्चा पढ़ने का इस तर्क पर विरोध उचित नहीं कहा जा सकता, चूंकि वे गैर सरकारी व्यक्ति हैं, इसलिए उन्हें यह अवसर नहीं दिया जाना चाहिए । देश-विदेश में अनेक ऐसे गैर सरकारी व्यक्ति हो सकते हैं जिनके पास शिक्षा-जगत को देने के लिए सरकारी लोगों की तुलना में कहीं अधिक महत्व के विचार हों । कल को किसी सरकारी आर्थिक सम्मेलन में अमर्त्यसेन को भारतीय अर्थव्यवस्था के बारे में अपने सुझाव देने से इसलिए रोक दिया जाये कि वे सरकारी व्यक्ति नहीं हैं तो यह दुर्भाग्यपूर्ण ही होगा । इसी तरह यह बात भी ठीक नहीं कही जा सकती कि चूंकि फलां व्यक्ति लकड़ी का व्यापार करता है इसलिए वह शिक्षा के बारे में कोई गंभीर बात नहीं कर सकता । क्या यही पर्याप्त नहीं था कि विपक्षी शिक्षामंत्री विद्या भारती के अनुगलक को पूर्वाग्रहों और संकीर्णताओं तथा चितलांगिया की इनसे संबंधिता और उनके द्वारा संचालित शिक्षा-प्रयोग में मतारोपण को ही अपने प्रतिवाद का आधार बनाते और उसी पर दृढ़ता से डटे रहते ।

यहां हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि केन्द्र सरकार के मंत्रालय का उक्त प्रस्ताव को इस तरह शामिल करना और चितलांगिया को व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित करना कोई उचित और सामान्य मामला नहीं था । विद्यालयों में संस्कृत की शिक्षा या वेद-पुराणों का अध्ययन बेशक कराया जा सकता है, बशर्ते आप एक गंभीर जनतांत्रिक बहस चलाकर इस तरह के अध्ययन की महत्ता स्थापित करें और तदोपरांत सर्वानुमति हासिल करें । लेकिन इसके लिए जिस तरह चोर रास्ते का इस्तेमाल किया गया, जनतंत्र में उसकी इजाजत नहीं दी जा सकती । फिर यदि सरकार को संस्कृत और वेद-पुराणों को लेकर इतनी ही चिंता है तो उच्च शिक्षा में संस्कृत के शास्त्रीय अध्ययनों के लिए नयी अध्येता वृत्तियां शुरु की जा सकती हैं । लेकिन केन्द्र में सत्तारुढ़ दल का मंतव्य कुछ और था । यह प्रसंग कुल जमा शिक्षा में सतही राजनीतिक अभिप्रेतों से संचालित क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रकरण मात्र है जिसमें शिक्षा की बेहतरी के लिए किसी विराट संकल्प या दृढ़ इच्छा शक्ति का कहीं कोई चिन्ह नहीं दीखता ।

अब सरस्वती वंदना के मुद्दे को ही लें । सार्वजनिक जीवन में, वयस्कों के लिए सरस्वती वंदना या ईश-वंदना का एक मतलब है लेकिन विद्यालय में बच्चों द्वारा ईश-वंदना जिसमें सरस्वती वंदना भी हो सकती है, का मतलब कुछ और होता है । वयस्क किसी धर्म विशेष को मानने या न मानने के लिए अपनी राय बना चुके होते हैं । ऐसी स्थिति में यदि कोई एक धर्म का व्यक्ति दूसरे धर्म के किसी अनुष्ठान में लिहाजवश शामिल हो जाये तो भी वह उससे अप्रभावित ही रहेगा लेकिन प्रस्तुत प्रसंग कोई ऐसा मामला नहीं था । शिक्षा-मंत्रियों का सम्मेलन देश की केन्द्र सरकार ने आहूत किया था । और भारत के संविधान ने साफ-साफ यह व्यवस्था दी है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होगा । सरस्वती वंदना राज्य सत्ता के धार्मिक रुझान की ही अभिव्यक्ति है जो संविधान के एक प्रमुख मूलाधार धर्म निरपेक्षता से विचलन का सूचक है । इसलिए राज्य के किसी भी आयोजन में किसी धार्मिक अनुष्ठान के लिए कोई जगह नहीं हो सकती । किन्तु शिक्षामंत्रियों द्वारा सरस्वती वंदना के बहिष्कार को उचित ठहराते हुए भी एक प्रश्न उठाना यहां जरूरी हो जाता है । क्या ये लोग राज्यसत्ता के प्रतिनिधि के रूप में इससे पूर्व धार्मिक अनुष्ठानों-समारोहों में शिरकत नहीं करते रहे हैं ? यहां तक कि कई बार तो सरकारी पद के प्रभाव और संसाधनों का भी इन्होंने धार्मिक गतिविधियों में सहभागी होने के लिए इस्तेमाल किया होगा । अपने अनुभव से सहज ही हम यह अनुमान लगा सकते हैं । धर्म-निरपेक्षता का दम भरने वाले कांग्रेसी

राजनेता अवसर और अपनी सुविधा के अनुसार धर्म-निरपेक्षता को परिभाषित करते रहे हैं। वामपंथियों की धर्म-निरपेक्षता तात्कालिक प्रतिक्रिया और सौहार्द-सभाओं से आगे जाती है तो हिन्दू साम्प्रदायिकता के एकांगी विरोध पर जाकर अटक जाती है, मुस्लिम व ईसाई साम्प्रदायिकता पर वे चुप्पी साधे रहते हैं। सामान्यतः भारतीय राजनेताओं के लिए धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म से दूरी नहीं है। 'राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होगा' – संविधान के इस वाक्य पर वे ज्यादा ध्यान नहीं देते बल्कि उनकी रुचि अगले वाक्य में है कि राज्य सभी धर्मों से समान व्यवहार करेगा। इस वाक्य को 'सर्वधर्म समभाव' में सूत्रबद्ध कर लिया जाता है और राजनेता धर्मों से दूरी बनाने की जगह सभी धर्मों के आदर का ढोंग करना शुरू कर देता है। बेशक 'ढोंग' क्योंकि उसका आदर तो वास्तव में अपने खुद के धर्म के प्रति होता है। उसका अपना धर्म अब निजी मामला नहीं होता, वह मंदिर, मस्जिद, गिरिजा और गुरुद्वारों में ही नहीं सिर नहीं झुकाता बल्कि पीर-पैगम्बरों और तांत्रिकों को भी ढोकता रहता है। 'सर्वधर्म समभाव' की आड़ में वह अवसर के अनुसार अपना मत-बैंक बनाता रहता है। वह दोहरे आचरण के लिए स्वतंत्र होता है, जहां एक तरफ तो अपने वैयक्तिक आग्रहों को तुष्ट करता है तो दूसरी ओर औरों से छलावा करता रहता है। इस आचरण के लिए किसी 'शुद्धि-पत्र' की गुंजाइश नहीं है। 'सभी धर्मों के प्रति आदर' के अर्थ में धर्म-निरपेक्षता एक त्रासद विडंबना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

'सर्वधर्म समभाव' के पक्ष में एक दलील अक्सर दी जाती है कि यह 'विभिन्न धर्मों के बीच एकता' की प्रक्रिया है। यह नितांत असंगत प्रक्रिया है। प्रथम तो विभिन्न धर्मों की स्थापनाएं परस्पर इतनी अन्तःविरोधपूर्ण और विरोधाभासी हैं कि उनमें एकता के सूत्र जोड़ने की कोई संभावना ही नहीं है। दूसरे, यदि धर्मों के बीच कोई एक समान तत्व है तो वह है-पराशक्ति को मान्यता। और इस मान्यता को स्वीकार करने की पूर्व-शर्त है स्वविवेक और वैज्ञानिक सोच को तिलांजलि। ऐसा करना अब तक की मानवीय प्रगति को निरस्त करना है जो हमने दीर्घकालीन संघर्ष के बाद हासिल की है। यदि इन तथ्यों से आंख मूंद कर धर्मों के बीच किसी सौहार्द की कल्पना कर भी लें तो बिना जमीन के उसके स्थायित्व की कितनी संभावना है। ऐसी कल्पना भले ही कितनी ही मधुर हो किन्तु वह क्षणिक होगी और सच्ची तो कदापि नहीं हो सकती। अतः धर्मनिरपेक्षता धर्मों के संश्लेषण की कोशिश नहीं बल्कि उनके प्रति आलोचनात्मक तटस्थता की स्थिति है।

अब बच्चों से सरस्वती वंदना या ईश-वंदना के मसले पर विचार करें। बचपन ऐसी अवस्था है जिसमें बच्चा स्वयं अपने लिए निर्णय लेने की क्षमता विकसित नहीं कर पाया। अभी उसकी चेतना और संवेदना निर्माण की प्रक्रिया में होती है। ऐसी स्थिति में यदि उसे ईश-वंदना के लिए कहा जाता है तो यह उसके प्रस्फुटित मनसः पर मतारोपण ही कहा जायेगा। और यदि सरकारी स्तर पर विद्यालयों में ईश-वंदना अनिवार्य घोषित कर दी जाती है तो राज्यसत्ता का धार्मिक रुझान साफ हो जाता है। केन्द्र सरकार ने अभी ऐसा मंतव्य खुले रूप में जाहिर नहीं किया लेकिन वह शिक्षा को 'भारतीयकृत राष्ट्रीयकृत और आध्यात्मिक' बनाने का संकल्प व्यक्त कर चुकी है। शिक्षा को 'आध्यात्मिक' कैसे बनाया जायेगा? इसे केन्द्र सरकार ने स्पष्ट नहीं किया। पर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि उसके लिए ईश-वंदना सरस्वती वंदना सहित ऐसी अनेक चीजें अपरिहार्य होंगी। वैसे भी वर्तमान में, देश भर में अपवादस्वरूप ही कुछ स्कूल होंगे जहां पढ़ाई की शुरुआत ईश-वंदना से न होती हो। यहां तक कि भाषा की किताबों में अक्सर पहला पाठ ही पराशक्ति- ईश-वंदना या किसी देवी देवता की स्तुति का होता है। और यह क्रम कोई आज शुरू नहीं हुआ है। एक इसी तथ्य से अनुमान लगा सकते हैं कि हमार स्कूली शिक्षा का चरित्र कितना धर्म निरपेक्ष है? लेकिन उक्त प्रकरण में सरस्वती वंदना का विरोध करने वालों में से एक ने भी विद्यालयों में ईश-वंदना के विरोध का वक्तव्य जारी नहीं किया।

ऐसा नहीं कि सरस्वती वंदना जैसी चीज स्कूल में कतई निषिद्ध हो। हर धर्म में संस्कृति के तत्व भी समाविष्ट होते हैं और यही धर्म के प्रतिकारक तत्व भी है। धर्म में जाकर कोई मान्यता स्थिर और रूढ़ रूप अख्तियार कर लेती है लेकिन संस्कृति में आने के बाद कोई धार्मिक अनुष्ठान या प्रतीक भिन्न और गतिशील अर्थ ले लेता है। यह धर्म और संस्कृति की प्रकृतिगत भिन्नता है। चूंकि शिक्षा भी एक सांस्कृतिक उपक्रम है और एक सांस्कृतिक गतिविधि के रूप में ईश-वंदनाओं या देवी-देवताओं की स्तुतियों को कराया जा सकता है। लेकिन बच्चों के बीच इन्हें कराते वक्त शिक्षकों को इस संदर्भ के प्रति बहुत सावधान और सचेत रहने की जरूरत है। यदि ये सिर्फ 'एक सांस्कृतिक गतिविधि' है तो बच्चे इसे सांस्कृतिक परंपराओं के बारे में समझ बना सकेंगे और गीत-संगीत, नृत्य आदि संस्कृति के घटकों का आस्वाद जानकर अपना सौंदर्यबोध विकसित करेंगे। लेकिन तब विभिन्न धर्मों की प्रार्थनाओं और अर्चनाओं के लिए विद्यालय को अनुमति देनी होगी और लोकगीत, यहां तक कि प्रेमगीत भी ऐसी गतिविधियों में जगह पायेंगे। इनके प्रति बच्चों का आकर्षण और रवैया स्वतंत्र होगा। तब ईश-वंदना या देव-स्तुतियों से होने वाले मतारोपण से बचा जा सकता है, जिसका निहितार्थ होता है—कोई एक पराशक्ति है जिसके समक्ष हम तुच्छ हैं और उस पराशक्ति के समक्ष नतमस्तक होकर हम कुछ मांगते हैं। और एक बार इस अर्थ को आत्मसात कर लेने के बाद एक बच्चे की चेतना अपनी स्वतंत्रता खो देती है।

क्या शिक्षा के क्षेत्र में धर्म के इस हस्तक्षेप को इजाजत दी जानी चाहिए जो बच्चों में स्वतंत्र चेतना के विकास के लिए मिलने वाले प्रारंभिक अवसरों का ही हरण कर लेता है और उस पर किसी खास मत का आरोपण कर देता है। यहीं से 'अनुकूलन' अर्थात् खुद के सोच को निरस्त कर दूसरों के द्वारा तयशुदा चीजों को स्वीकार करने की प्रक्रिया का भी सूत्रपात हो जाता है।

यदि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें कि भारतीय शिक्षा का चरित्र कितना धर्मनिरपेक्ष रहा है तो निराशा हाथ लगती है। देश के संविधान के अनुच्छेद 28 और 30 क्रमशः सरकार द्वारा संचालित या अनुदानित शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक उपदेशों को प्रतिबंधित और अल्पसंख्यकों के शिक्षा संबंधी अधिकारों को सुरक्षित करते हैं। सरकारी स्कूलों के धार्मिक रुझान का एक प्रमाण तो ऊपर ईश-वंदना के संदर्भ में दिया जा चुका है, बाकी आप किसी भी शिक्षक से बातचीत करके जान सकते हैं। जहां तक अनुदानित संस्थाओं का प्रसंग है, वहां धार्मिक प्रचार अनुदान लेने के लिए की गयी लिखित घोषणा तक ही वर्जित होता है। यहां यह उल्लेख करना जरूरी हो जाता है कि अल्पसंख्यकों द्वारा संचालित स्कूलों में यह प्रवृत्ति कहीं अधिक भले ही हो, कम नहीं है। फिर यह समझ में नहीं आता कि गैर सरकारी शिक्षा-संस्थाओं को इस अनुच्छेद की परिधि से बाहर क्यों रखा गया है? आज जबकि निजी व स्वैच्छिक शिक्षा-संस्थाओं का एक समान्तर-तंत्र खड़ा हो गया है, उन्हें शिक्षा में धर्म के घालमेल की खुली छूट देना क्या देश में धर्मनिरपेक्षता के भविष्य के लिए खतरनाक संकेत नहीं है? धर्म और शिक्षा के रिश्ते को लेकर अनेक ऐसे गंभीर सवाल हैं जिन पर हमें वस्तुपरक चिंतन करके ईमानदार निर्णय लेने और उन्हें दृढ़ता से क्रियान्वित करने की जरूरत है। ♦